P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-5* ISSUE-8* April- 2018
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

वैश्वीकरण का भारत के राज्य–राजनीति पर प्रभाव : एक अध्ययन

सारांश

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त अर्थात् पूर्ववर्ती शताब्दी के उत्तरार्द्ध से 'विकास' समाज विज्ञानों के अंतर्गत एक मुख्य अवधारणा रही है। विकास और राजनीति के बीच एक गहरा सम्बन्ध रहा है। गत शताब्दी के अंतिम दशक में आरम्भ हुई वैश्वीकरण की प्रक्रिया के उपरांत, भारत में भी सम्पन्न हुए आम चुनावों का मुख्य मुद्दा 'विकास' रहा है। यहां हम विश्लेषण के द्वारा यह समझने का प्रयास करेंगे कि क्या विकास के समाजवादी प्रतिमान से उदार पूंजीवाद वाले वैश्वीकरण के प्रतिमान की ओर भारत की राजनीति का गमन और भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का एकदलीय प्रभुत्व से ध्रुवीकृत बहुलवादी बहुदलीय व्यवस्था में परिवर्तन के बीच कोई सीधा सम्बन्ध है तथा क्या विकास का उदार पूंजीवादी प्रतिमान राष्ट्रीय राजनीतिक दलों के पराभव और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के उभार हेतु उत्तरदायी है? साथ ही हम यह समझने का भी प्रयास करेंगे कि उपर्युक्त आर्थिक–राजनीतिक परिवर्तन का राज्यों की राजनीति पर क्या प्रभाव पड़ा है?

मुख्य शब्द : विकास, वैश्वीकरण, समाजवादी प्रतिमान, उदार पूंजीवाद, ध्रुवीकृत बहुलवादी बहुदलीय व्यवस्था, क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का उभार।

पयोद जोशी
एसोसिएट प्रोफेसर,
राजनीति शास्त्र विभाग,
मा.ला.वर्मा राजकीय
महाविद्यालय,
भीलवाड़ा, राजस्थान

प्रस्तावना

विकास की संकल्पना का मूल प्रश्न यह है कि कोई समाज अपने विविध लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्राकृतिक और मानवीय संसाधनों का प्रयोग किस प्रकार करे अर्थात् सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक समृद्धि की प्राप्ति के लिए समाज द्वारा मानवीय एवं प्राकृतिक संसाधनों के उत्पादन, वितरण एवं उपभोग का तरीका क्या हो? इस प्रश्न के उत्तर में विश्व स्तर पर अभी तक 'विकास' के दो मुख्य प्रतिमान सामने आये हैं– प्रथम, उदार पूंजीवादी प्रतिमान तथा द्वितीय मार्क्सवादी प्रतिमान। अमरीका की रहनुमाई में उदार पूंजीवादी प्रतिमान पश्चिम के देशों में लोकप्रिय हुआ जबकि 1917 की अक्टूबर क्रांति के बाद सोवियत संघ के नेतृत्व में मार्क्स के समाजवादी प्रतिमान को विश्व के कई देशों में जगह मिली।

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत भारत में नियोजित विकास की प्रक्रिया को अपनाया गया जो, मुख्यतः मिश्रित अर्थव्यवस्था के प्रतिमान को लेकर आगे बढ़ी। यह विकास की कांग्रेस प्रणाली[1] थी जिसके जरिए कांग्रेस ने शासन को एकदलीय प्राधान्य[2] बनाए रखा। साठ के दशक में पहली बार विकास की यह प्रक्रिया अपने लक्ष्यों से भटकी और एकदलीय प्रभुत्व टूटा। 1967–70 के दौर में भारत के कई राज्यों में गैर कांग्रेसी संविदा सरकारे बनी। 1969 में स्वयं कांग्रेस विभाजित हो गई। तदोपरांत इंदिरा गांधी ने नेहरू द्वारा प्रदत्त विकास की कांग्रेस प्रणाली को और अधिक समाजवादी बनाने का प्रयास किया और कांग्रेस (आई) के रूप में पुनः एक दलीय प्रभुत्व भारतीय राजनीति में कायम हुआ। 1977 में जरूर कांग्रेस (आई) चुनावों में पराजित हुई, किंतु उसके स्थान पर केन्द्र में बनी पहली गैर कांग्रेसी सरकार ज्यादा समय तक स्थाई नहीं रह सकी। 1990 तक आते–आते वैश्वीकरण की प्रक्रिया को विकास के निर्विकल्पिक प्रतिमान के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा। इस दौर में राज्य की समाजसेवी एवं कल्याणकारी भूमिका समाप्त हो गई और वह कॉर्पोरेट पूंजी का विस्तारक एजेंट बन गया। 1990 के उपरांत ही राष्ट्रीय स्तर के प्रमुख दलों को अनेक प्रांतो की जनता ने अस्वीकार कर दिया। नतीजतन राज्यों की राजनीति में क्षेत्रीय दलों का प्रभुत्व कायम हुआ, जिसका असर केन्द्र की राजनीति में भी हुआ और गठबंधन सरकारें बनी। प्रस्तुत शोधपत्र इस बात की पडताल करता है कि भारत में 1990 के दशक में आये राजनीतिक अस्थाईत्व अथवा गठबंधन राजनीति के उभार तथा

क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के उभार के बीच क्या कोई संबंध है ? यह पड़ताल हमें इस बात को समझने में मदद करती है कि राजनीतिक व्यवस्था द्वारा अपनाये गए। अर्थव्यवस्था के प्रतिमान राज्यों की राजनीति और हमारे संघीय ढांचे को किस हद तक प्रभावित कर सकते हैं ?

शोध समस्या

आजादी बाद भारत ने राजनीतिक तौर पर विश्व के पूंजीवादी अथवा साम्यवादी कैम्प में सम्मिलित होने के स्थान पर गुटनिरपेक्ष रहना बेहतर समझा। स्वतंत्रता के बाद भारत–सरकार का प्रमुख लक्ष्य ब्रिटिश शासकों द्वारा छोड़ी गई दरिद्र,पिछड़ी हुई समाज–व्यवस्था का एक समृद्ध, स्वतंत्र, विकसित, आधुनिक, औद्योगिक–शहरी समाज व्यवस्था में रूपान्तरण करना रहा। (देसाई : 1989) इस हेतु भारत में विकास का ऐसा मिश्रित प्रतिमान स्थापित किया गया, जिसमें औद्योगिक विकास के साथ–साथ समाजवादी मूल्यों की स्थापना भी एक लक्ष्य रहा। इसके अन्तर्गत मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था के समानान्तर राज्य की कल्याणकारी भूमिका को भी उभारा गया, क्योंकि तत्कालीन भारत का नेतृत्व इस बात से सुपरिचित था कि राज्य मुक्त अर्थव्यवस्था के अनेक खतरे हैं। इसके दीर्घकाल तक उपस्थित रहने से हिंसक क्रान्ति की संभावनाएं बढ़ जाती है। किन्तु विकास के नवउदार पूंजीवादी प्रतिमान अर्थात वैश्वीकरण का मूल तर्क यह है कि तृतीय विश्व के देशों को अपने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विकास के लिए पश्चिमी देशों के अनुरूप संरचनाएं विकसित करनी होगी। यह प्रतिमान बाजार अर्थव्यवस्था के द्वारा ही विकास संभव मानता है। द्वितीय महायुद्ध के उपरांत पश्चिमी देशों द्वारा पूर्व के राष्ट्र–राज्यों का विकास उदार बाजार व्यवस्था द्वारा ही संभव माना गया। इस प्रतिमान का तर्क यह था कि यदि सरकारी हस्तक्षेप के बिना अर्थव्यवस्था को अपने स्तर पर विकसित होने का अवसर दिया जाता है तो मुक्त बाजार और प्रतिस्पर्द्धा निश्चय ही आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देंगे और धीरे–धीरे विकासशील देश भी विकसित देशों के स्तर पर पहुंच जाएंगे। 1991 के उपरान्त भारत में भी उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के रूप में आर्थिक सुधारों का दौर शुरू हुआ। यह रणनीति लाइसेंस, परमिट राज से उदारीकरण, स्वदेशीकरण से भूमंडलीकरण, संरक्षण से प्रतियोगिता तथा सार्वजनिक क्षेत्र से निजीकरण की ओर मुड़ने की थी। इन नीतियों को अपनाते समय सरकार ने समृद्धि के जो सब्जबाग दिखाए थे, वे मृग मरीचिका साबित हुए हैं। विकास की इन नीतियों से पूंजीपतियों, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों व कॉर्पोरेट सेक्टर को बड़े लाभ हुए हैं, जिससे विश्व स्तर पर भारत की अर्थव्यवस्था उन्नत दिखाई देती है, लेकिन बहुसंख्यक जनता यानि मजदूर, किसान व मेहनतकश तक इन आर्थिक सुधारों का कोई लाभ नहीं पहुंचा है। यदि हम अर्जुन सेन गुप्ता समिति प्रतिवेदन के आंकड़ो पर विश्वास करें तो आज 20 प्रतिशत भारतीयों के पास 80 प्रतिशत सम्पत्ति का केन्द्रीकरण हो गया है, जबकि 80 प्रतिशत भारतीय 80 रूपये से कम दैनिक आय पर अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। (साईनाथ : 2011) इसका राजनीतिक परिणाम यह निकला कि राष्ट्रीय राजनीतिक दलों को अनेक प्रांतो की जनता ने अस्वीकार करना शुरू कर दिया। नतीजतन राष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का प्रभुत्व कायम हुआ और गठबंधन सरकारों का उदय हुआ, जो कमोबेश अस्थिर सरकारें रही है। हमारी शोध समस्या यह है कि इस तथ्य के उपरांत भी भारत के प्रमुख राजनीतिक दल विकास के नाम पर वैश्वीकरण की नवउदार नीतियों को लगातार जारी रखे हुए हैं। अर्थनीतियों को लेकर वर्तमान राजनीतिक दलों के व्यवहार में कोई मूलभूत अंतर नजर नहीं आता। तब क्या चुनाव परिणाम वास्तव में विकास की नीतियों पर सैद्धांतिक बहस से तय हो रहे हैं अथवा कोई और तथ्य हैं जो चुनाव परिणामों को तय कर रहे हैं ? हमारी दूसरी शोध समस्या भारत के बदलते संघीय प्रतिरूप से जुड़ी है। हम यह जानना चाहते हैं कि क्या अर्थनीति के बदलाव ने भारत के संघीय प्रतिरूप को बदला है और वह एकात्मक झुकाव से सहयोगी ढांचे की ओर विकसित हुआ है?

शोध प्रकल्पना

प्रस्तुत शोध पत्र मानकीय होने के साथ – साथ व्यवहारवादी प्रकृति का है। हमने मुख्यतः द्वितीयक आंकड़ों का प्रयोग किया है। समस्या मानकीय होने के साथ – साथ व्यावहारिक राजनीति के साथ जुड़ी है। इसलिए भारत की राजनीति से जुड़े तथ्यों को शोध का आधार बनाया गया है।

साहित्यावोकन

2002 में प्रकाशित जयन्ति घोष एवं सी.पी. चन्द्रशेखर की पुस्तक ''दि मार्केट देट फेल्डः निओलिबरल इकॉनोमिक रिफॉर्मस इन इंडिया'' 1991 के उपरांत भारत में वैश्विक अर्थव्यवस्था के नाम पर किए गए आर्थिक सुधारों की असफलताओं की विस्तृत व्याख्या करती है। यह पुस्तक स्थापित करती है कि नेहरूकालीन मिश्रित अर्थव्यवस्था के प्रतिमान ने सामाजिक–आर्थिक असमानता के उन्मूलन के लिए जिन भूमि सुधारों और जमींदारी उन्मूलन कार्यक्रमों को हाथ में लिया, राज्य द्वारा उन्हें समुचित ढंग से लागू नहीं किया गया। भूमि–सुधार आधे–अधूरे ढंग से लागू हुए तथा औद्योगिक क्षेत्र में पूंजी का केन्द्रीकरण होता चला गया। इसका परिणाम यह हुआ कि आर्थिक सुधारों के नाम पर नवउदार अर्थव्यवस्था को अपनाया गया किन्तु यह सुधार असमानता को गहरा करने वाले थे। किन्तु यह पुस्तक इन आर्थिक सुधारों के राजनीतिक परिणामों का विश्लेषण नहीं करती जिनका उल्लेख इस शोध पत्र में किया जा रहा है।

अतुल कोहली की 2009 में प्रकाशित पुस्तक ''डेमोक्रसी एंड डेवलपमेंट इन इंडिया : फ्रॉम सोशिलिज्म टू प्रो बिजनिस'' गत शताब्दी के अंतिम तीन दशक, जिनमें भारत की समाजवादी अर्थव्यवस्था बाजार प्रिय अर्थव्यस्था में बदल रही थी, का आर्थिक – राजनीतिक विश्लेषण करती है। कोहली इन तीन दशकों में हुए राजनीतिक परिवर्तनों, विशेषकर गठबंधन की राजनीति के उदय को कमजोर संसदीय लोकतंत्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं और नवीन आर्थिक सुधारों के साथ उसे जोडकर देखते हैं। कोहली तर्क देते हैं कि इन दशकों में भारत की अर्थव्यवस्था तो समृद्ध हुई और सकल घरेलू उत्पाद और वृद्धि दर भी बढ़ी किन्तु दूसरी ओर गरीबी, बेरोजगारी

और असमानता ने भी अपने पैर पसारे। कोहली इन तीन दशकों में भारत के राज्यों में असंतुलित विकास की ओर भी ध्यान खीचतें हैं। कोहली की पुस्तक राज्य –समाज के बदलते संबंधों को रेखांकित करती है। उनके मत में समाजवाद से खुले व्यापार की ओर जाती भारत की अर्थव्यवस्था के साथ राजनीति विकेन्द्रित हुई है और राज्य नेतृत्व का हस्तक्षेप बढ़ा है। अर्थव्यस्था तेज गति से आगे बढी है किन्तु लचर प्रशासनिक रवैये के कारण विकास संतुलित नहीं रहा जिसके कारण राजनीतिक अस्थाईत्व पैदा हुआ। कोहली नवउदार अर्थव्यवस्था के दौर में बढी असमानता और असंतुलित विकास को तो स्वीकार करते हैं किन्तु इसका कारण कहीं ना कहीं प्रशासन को मानते हैं । हमारा तर्क यह है कि विकास के इस नवउदार प्रतिरूप में ही असमानता और असंतुलन अंतरनिहित है । प्रस्तुत शोधपत्र यह स्थापित करता है कि भारत की अर्थव्यवस्था जब तक समाजवाद पर आधारित रही , राजनीतिक स्थायित्व रहा किन्तु जैसे ही वह खुली अर्थव्यवस्था की ओर बढती है, राजनीतिक अस्थाईत्व उत्पन्न होता है।

2007 में प्रकाशित सुरेश तेंदुलकर तथा टी. ए. भवानी की पुस्तक , ''अंडरस्टेंडिंग रिफॉर्मसः पॉस्ट 1991 इंडिया'' और विवेक छब्बर की पुस्तक, ''लॉक्ड इन प्लेस : स्टेट बिल्डिंग एंड लेट इंडस्ट्रीलाइजेशन इन इंडिया'' भी इस कडी की महत्वपूर्ण कृतियां है। किन्तु ये कृतियां नवउदार व्यवस्था की आर्थिक व्याख्या ज्यादा है बजाए राजनीतिक व्याख्या के। ड्रेज, जीन और अर्मत्य सेन कृत ''इंडिया : डवलपमेंट एंड पार्टिसिपेशन'' पुस्तक विभिन्न राज्यों के मध्य विकास की नीतियों की तुलनात्मक विवेचन करती है और केरल तथा पश्चिम बंगाल का उदाहरण देकर यह तर्क स्थापित करती है कि गरीबोन्मुखी सरकारें नागरिकों को ज्यादा संतुष्ट करती हैं और स्थाई होती हैं। केरल और बंगाल में भूमि सुधारों के सही ढंग से होने के कारण सरकारें लोकप्रिय रही किन्तु भूमि अधिग्रहण जैसी नवउदार नीतियां जनता को शासन से दूर करती हैं। 2014 में समीर अमीन और जॉन बेलेमी फॉस्टर की पुस्तक ''केपीटलिज्म इन दी एज ऑफ ग्लोबलाइजेशनः दी मेनेजमेन्ट आफ कन्टेमप्रेरी सोसाइटी'' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में अमीन का कहना है कि दक्षिण में वैश्वीकरण की शोषणकारी नीतियों से शासक वर्ग लोहा नहीं ले सका, इससे वहां कट्टरतावाद,नस्लवाद और हिंसा को बढावा मिला। पूरी दुनियां में दक्षिणपंथ की विजय इस तथ्य को बल प्रदान करती है। 2017 में प्रकाशित पी. डीकॉस्टा और अचिन चकबर्ती की पुस्तक , ''दी लैंड क्यूशचन इन इंडिया : स्टेट, डीपजेशन एंड केपीटीलिस्ट ट्रांजिशन'' वैश्वीकरण के दौर में भारत में भूमि के प्रश्नों और उससे जुडी सेज, भूमि अधिग्रहण जैसी राज्य नीतियों का विष्लेषण प्रस्तुत करती है। वैश्वीकरण के अन्तर्गत आधारभूत संरचना के विकास के नाम पर किसानों को जमीनों को बेदखल करने की नीतियों को पुस्तक उभारती है। इस पुस्तक से हमें वैश्वीकरण के जमीनी स्तर पर होने वाले उन प्रभावों को समझने में मदद मिलती है जिनसे राजनीति प्रभावित होती है।

अवधारणात्मक विमर्श एवम् उपकल्पना

विकास के उदार पूंजीवाद प्रतिमान का मूल तर्क यह है कि तृतीय विश्व के देशों को अपने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विकास के लिए पश्चिमी देशों के अनुरूप संरचनाएं विकसित करनी होगी। यह प्रतिमान बाजार अर्थव्यवस्था के द्वारा ही विकास संभव मानता है। द्वितीय महायुद्ध के उपरांत पश्चिमी देशों द्वारा पूर्व के राष्ट्र–राज्यों का विकास उदार बाजार व्यवस्था द्वारा ही संभव माना गया। इस प्रतिमान का तर्क यह था कि यदि सरकारी हस्तक्षेप के बिना अर्थव्यवस्था को अपने स्तर पर विकसित होने का अवसर दिया जाता है तो मुक्त बाजार और प्रतिस्पर्द्धा निश्चय ही आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देंगे और धीरे–धीरे विकासशील देश भी विकसित देशों के स्तर पर पहुंच जाएंगे।

उदार पूंजीवाद पर आधारित यूरोप का यह विकास मात्र सकल राष्ट्रीय आय और सकल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि को ही विकास को पैमाना मानता है। डींडले सीमर्स ने समझाया है कि राष्ट्रीय आय या उत्पाद में वृद्धि के आंकड़े भ्रमक हो सकते हैं। क्योंकि यदि दस व्यक्तियों के समूह में एक व्यक्ति की आय सौ रूपये प्रतिदिन हो तो सकल आय का औसत तो नौ व्यक्तियों की आय से बहुत अधिक होगा, लेकिन इससे नौ व्यक्तियों की आय तो संतोषजनक नहीं होगी और इनमें से कुछ व्यक्ति बेरोजगार है तो सकल आय का औसत इनके लिए अप्रासंगिक होगा। इसलिए सकल राष्ट्रीय आय के दुगुना हो जाने पर भी गरीबी, बेरोजगारी, और असमानता बनी रह सकती है और तब इसे विकास कहना सही नहीं होगा। इस तर्क के उपरांत भी यदि पश्चिम की बहुसंख्यक जनता ऐश्वर्य में जीती नजर आती है तो इसका प्रतिवाद पूर्ववर्ती तर्क ही है कि उनका यह कहा जाए कि पश्चिम की बहुसंख्यक जनता ऐश्वर्य दुनियां के अधिकांश हिस्सों के प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधनों का दोहन करके संभव हुआ है। यद्यपि गहन विश्लेषण यह भी प्रकट करता है कि यूरोप का बहुसंख्यक समाज आज भी गुलाम है और कठोर व्यवस्थाओं द्वारा नियंत्रित है।

विकास के इस उदार पूंजीवादी प्रतिमान के अंतर्गत पृथ्वी का निर्द्वन्द भोग करने की संपूर्ण संभावनाएं विद्यमान है। यह प्रतिमान अंततः संपूर्ण प्रकृति (जड़ व चेतन) को अपने भोग की सामग्री मानता है। इस सोच के कारण ही विकास की अंधी दौड़ में लगे पूंजीवाद ने पृथ्वी का इस कदर दोहन किया कि संपूर्ण पर्यावरण असंतुलित हो गया और अब प्राकृतिक स्रोतों की अनुपलब्धता ने मानव अस्तित्व के भविष्य पर प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दिया है। मार्क्स ने अपनी कृति 'कैपिटल' में बहुत पहले इस संकट के प्रति आगाह कर दिया था –

"बड़े शहरी क्षेत्रों में जनसंख्या जुटाते हुए और इस तरह शहरी आबादी का प्रभुत्व लगातार बढ़ाते हुए पूंजीवादी उत्पादन विधि जहां एक ओर समाज की ऐतिहासिक प्रेरणा शक्ति को और धरती के बीच भौतिक पदार्थों के संचरण को बाधित करती है। यानि, आदमी अन्न और वस्त्र के रूप में जिन तत्वों का उपयोग करता है, उन्हें फिर से धरती को वापस करने की प्रक्रिया में यह प्रणाली रूकावट डालती है।" (मार्क्स : पूंजी खंड 1)

वैश्वीकरण उदार पूंजीवाद प्रतिमान का नवीन स्वरूप है। वैश्वीकरण के अंतर्गत विकास की नीतियां बनाते समय तीन अटल सिद्धांतो को केन्द्र में रखा जाता है– खर्च में कटौती, निजीकरण और बाजार का खुलापन। यह सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक की देन है जो पूर्णतः अमरीका जैसे विकसित देशों की आवारा पूंजी द्वारा नियंत्रित एवं निर्देशित है। वैश्वीकरण का मूल उद्देश्य है– सारी दुनियां को अबाध व्यापार के लिए खोलना। यह नीति सदा सशक्त व्यापारिक समूहों के हित में होती है। वैश्वीकरण विकासशील और अल्पविकसित राष्ट्र–राज्यों पर आरोपित विकास प्रतिमान है, जिसकी तार्किक परिणति परिधि देशों के शोषण द्वारा केन्द्रीय देशों की समृद्धता के रूप में होती है। विश्व–व्यवस्था के केन्द्रीय राष्ट्र परिधि देशों के संसाधनों का भूमंडलीकरण के नाम पर शोषण कर रहे हैं। सच्चिदानंद सिन्हा के शब्दों में ''यह व्यवस्था सारे संसार को कुछ सशक्त पूंजीवादी प्रतिष्ठानों यानि बहुर्राष्ट्रीय कम्पनियों और उनके संकेन्द्र के सबसे सबल केन्द्र अमरीका के हितों की रक्षा का माध्यम बनी हुई है। संसार को एक करने की इसकी दृष्टि पूरी तरह एक आयामी है। यह सिर्फ व्यापार के लिए दुनियां को एक करना चाहती है– बाकी सारी बाते आनुशंगिक है।'' (सिन्हा : 2003)

1991 में वैश्वीकरण की प्रक्रिया को आधार बनाकर भारतीय शासक वर्ग ने विकास की जो नई रणनीतियां बनाई, उसने भारत की राजनीति में नए तनावों व संघर्षों को जन्म दिया है। अस्सी और नब्बे के दशक में आर्थिक सुधारों की नवउदारवादी नीतियों ने देश के गरीब, उत्पीड़ित व दलित तबके को हाशिये पर धकेल दिया तथा असंतुलित विकास के कारण राजनैतिक अस्थिरता को जन्म दिया। 'ग्लोबल' के फेर में 'लोकल' हितों की अनदेखी ने राष्ट्रीय राजनीतिक दलों के वर्चस्व को समाप्त कर दिया और क्षेत्रीय दलों का उभार हुआ। यह देश के संघीय ढ़ांचे के लिए तो शुभ संकेत है, किंतु इससे संसदीय लोकतंत्र की व्यवस्था कमजोर हुई है। यही नहीं, क्षेत्रीय हितों के अतिरिक्त उभार ने राष्ट्रीय एकीकरण को चुनौती प्रस्तुत की है। सामाजिक, आर्थिक संघटन की नवीन वैश्वीकृत प्रणाली के दबावों से जहां एक ओर क्षेत्रीय अस्मिताओं को लेकर आन्दोलन हो रहे हैं, वहीं दूसरी ओर भाषा, जाति और सम्प्रदाय को लेकर तनाव मुखर हुए हैं। नव उदार अर्थव्यवस्था के दौर में पूरी समाज व्यवस्था एक बुनियादी परिवर्तन का सामना कर रही है, जिसमें व्यक्ति और समूह के स्थानिक हित महत्वपूर्ण हो गये हैं। सत्ता में हिस्सेदारी के लिए विभिन्न सामाजिक–सांस्कृतिक समूह के बीच खुली होड़ जारी है।

भारत में वैश्वीकरण और राज्य राजनीति पर प्रभाव

वैश्वीकरण के इस दौर में यदि हम राज्यों की राजनीति के परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो प्रथम तथ्य यह उभरकर आता है कि अधिकांश राज्यों में दो क्षैत्रीय राजनीतिक दलों के बीच सत्ता को लेकर सीधा संघर्ष हो रहा है। देश के एक बहुत बड़े हिस्से में राष्ट्रीय राजनीतिक दलों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। कई प्रदेशों में वे सत्ता की दौड़ से बाहर है अथवा क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के साथ सत्ता में साझेदार होने को बाध्य है। इस स्थिति के कारणों का विश्लेषण करें तो प्रकट होता है कि राष्ट्रीय राजनीतिक दलों ने 'ग्लोबल' हितों की तुलना में कहीं न कहीं 'लोकल' हितों की अवहेलना की, जिससे स्थानीय जनता में उनके प्रति विश्वास नहीं रहा। इससे क्षेत्रीय और प्रदेशों की राजनीति में एक निर्वात पैदा हुआ जिसे क्षेत्रीय राजनीतिक दलों ने क्षेत्रीय हितों के नाम पर भरा। स्थानीय संसाधनों के महंगे हो जाने से उनके अपने हाथ से निकल जाने के भय ने जनता को उन लोगों को चुनने की ओर प्रेरित किया, जो उनके स्थानीय संसाधनों और हितों की सुरक्षा कर सके। यहां यह देखना भी दिलचस्प होगा कि आर्थिक सुधारों की जो रणनीति केन्द्र की सरकारों ने शुरू की, उसे क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का भी निरंतर समर्थन मिलता रहा है। गठबंधन सरकारों में सम्मिलित क्षेत्रीय दल इन नए आर्थिक सुधारों पर अपनी मोहर लगाते रहे हैं। संभवतः इसका कारण यह रहा है कि एक तो वे यह विचार रखते हैं कि विदेशी पूंजी निवेश उनके स्वयं के राज्यों में होगा तो वे ज्यादा विकास कर पायेंगे। दूसरा, क्षेत्रीय पूंजीपति भी विदेशी पूंजी के साथ सांठ–गांठ रखने की आकांक्षा रखते हैं। किंतु इन सुधारों का जो असर सामने आने लगा है अब उससे ये दल इन सुधारों से कतराने लगे हैं और आज खुदरा क्षेत्र में एफडीआई का विरोध कर रहे हैं।

इस संदर्भ में दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि पूंजीवादी विकास के भूमंडलीय प्रतिमान ने कृषि आधारित ग्रामीण अर्थव्यवस्था को बाजार की भेंट चढ़ा दिया। इससे कृषि कार्य में लगे दलित व उत्पीड़ित समुदाय अपने पारम्परिक व्यवसाय को छोड़कर वैकिल्पक व्यवसायों को चुनने की ओर अग्रसर हुए। इससे जातियों की संरचना भीतरी तौर पर विषमतामूलक हो गई। अलग–अलग जातियों ने अपनी पारम्परिक व्यवस्था से दूर हटने के लिए अलग–अलग रास्ते अपनाये, जिसके कारण जाति–मुदायों के भीतर वर्ग–रचना शुरू हुई। किंतु जातियों के भीतर इस वर्ग रचना ने जाति–समुदायों को विलुप्त नहीं किया बल्कि उनके एकीकरण को आवेग प्रदान किया। जातियों के भीतर वर्ग–रचना ने एक नव मध्यवर्ग को जन्म दिया, जो चुनावी होड़ के जरिए सत्ता हासिल करने के लिए अपने–अपने समुदायों को बड़े–बड़े समूहों के रूप में एकीकृत करने लगा। (बर्धन : 2011) इस प्रक्रिया ने विभिन्न राज्यों में सामाजिक समूहों के भीतर पहचान व अस्मिता का संकट पैदा किया। जिस तरह से जाटों, यादवों, गुर्जरों, कुर्मियों, मराठों, तमिलों आदि की अस्मिताएं मुखर हुई है, उसी रूप में क्षेत्रीय राजनीतिक दल, जो स्थानीय स्तर पर इन सामाजिक समूहों की अगुवाई करते हैं, सुदृढ़ हुए हैं। वस्तुतः वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने ''समृद्धि में समता'' की भावना प्रत्येक जाति–समुच्चय में बलवती की है,जिससे बड़े–बड़े जाति समुच्चय राजनीतिक हिस्सेदारी और विकास में अपना हिस्सा बंटाने के लिए बड़े 'समुदायों' में तब्दील हुए हैं। इससे निश्चित ही राज्यों की राजनीति में जातीय तत्व पहले की अपेक्षा और मजबूत हुआ है। आज विभिन्न राज्यों में पिछड़े वर्ग और दलित तेजी से एकजुट होकर राजनीतिक दावेदारी करने वाले शक्ति–समूहों में बदल गए हैं। लोकतंत्र की 'तीसरी लहर' में यही समुदाय निरंतर सक्रिय हो रहे हैं।

(आलम : 2007) वस्तुतः राजनीतिक दलों ने इस जातीय ध्रुवीकरण को अपनी सुविधा के अनुसार जीवित रखने की कोशिश की है। नब्बे के दशक में भाजपा ने इसके बड़े मुकाबले के लिए इससे व्यापक एकता यानी सभी हिन्दुओं की एकता का ऐलान किया। इसका आधार मुस्लिम विरोध था। वैश्वीकरण के दौर में भाजपा का बढ़ता जनाधार का मुख्य कारण जातियों का धर्म के नाम पर यह व्यापक ध्रुवीकरण ही रहा है।

तीसरा, वैश्वीकरण के इस दौर में संसाधनों पर अधिकार कायम करने की होड़ ने अनगिनत छोटे–छोटे समुदायों के खुशनुमा सहअस्तित्व को नष्ट कर दिया है। लगा यह था कि आर्थिक सुधारों का नवउदारवादी प्रतिमान समाज में प्रतियोगिता मूलक सहअस्तित्व का विकास करेगा। किंतु ऐसा हुआ नहीं। संसाधनों पर वर्गीय संकेन्द्रण ने इस प्रतियोगिता को हिंसक प्रतिस्पर्धाओं में बदल दिया। समाज के विभिन्न समूहों के मध्य वैमनस्यता बढ़ गई है।

चौथा, वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने राज्यों में पृथकतावादी और फासीवादी ताकतों को मजबूत किया है। वैश्वीकरण देश में समृद्धता के कुछ द्वीप भौगोलिक स्तर पर निर्मित कर देता है, जिनकी ओर देश का जनसमूह दौड़ने लगता है। क्योंकि इन विकसित शहरों में ही अधिकांश रोजगारों का संकेन्द्रण हो जाता है। उदाहरण के लिए भारत में मुम्बई, पूना, हैदराबाद, बेंगलूर और दिल्ली जैसे शहर बहुर्राष्ट्रीय कम्पनियों के गढ़ बन गए हैं। इससे युवा श्रम शक्ति इन शहरों की ओर बढ़ी। नतीजतन इन शहरों में स्थानीय संसाधन जैसे–जमीन, मकान, पानी, बिजली सभी महंगे हो गए। ऐसे में ये संसाधन स्थानीय जनता की पहुंच से बाहर हो गये। यहां इस तथ्य को भी समझा जाना आवश्यक है कि जब बड़े कॉर्पोरेट घराने वैश्वीकृत आवारा पूंजी के जरिए संसाधनों पर एकाधिकार कायम करने लगते हैं। इससे जो गुस्सा लोगों में जन्म लेता है, उसे स्थानीय राजनीतिक समूह 'क्षेत्रीय अस्मिता' के नाम पर संगठित कर लेते हैं, जिससे पृथकतावादी एवं फासीवादी ताकतों को बल मिलता है।

पांचवा, वैश्वीकरण के कारण जनसाधारण को अपने दैनिक जीवन में विनाशकारी नतीजों का सामना करना पड़ा है। गरीबों के लिए बेहतर जीवन और रोजी रोटी के सवाल महत्वपूर्ण बन गए हैं। ऐसे में उसे 'भारत उदय' या 'शाइनिंग इंडिया' के नारे उसे लुभाते नहीं है। 1996 के उपरांत हुए विभिन्न चुनावों के नतीजों का विश्लेषण यह बतलाता है कि मजदूरों, किसानों, दिहाड़ी कामगारों, बेरोजगारों, अर्धरोजगारशुदाओं और इन सभी तबकों की स्त्रियों ने सरकारों की ओर से प्रस्तुत किये जाने वाले विकास के आर्थिक सूचकांको के बाजार इन सूचकांको के अपने उपर पड़ने वाले असर के आधार पर मत दिया। उदाहरण के लिए 2004 के चुनावों में आंध्र प्रदेश को आर्थिक सुधारों तथा भूमंडलीकरण का प्रतिमान बनाने की कोशिश जनता द्वारा ठुकरा दी गई। गुजरात में विकास का दावा करने वाले नरेन्द्र मोदी की लोकप्रियता में 2004 के चुनावों में कमी दर्ज की गई। यही नहीं 'फील गुड' का नारा देने वाली राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन 2004 में लोकसभा चुनाव हार गया। 2014 में भारत में आर्थिक सुधारों का बडा चेहरा कहे जाने वाले डॉ. मनमोहन सिंह चुनाव हार गए। उनके स्थान पर 'विकास' के गुजरात मॉडल, जो न्यूनाधिक रूप से उदार पूंजीवाद का प्रतिरूप है, के नायक नरेन्द्र मोदी को जनता ने चुना। किन्तु वह विकास के गुजरात मॉडल की अपेक्षा, विकास की इस नई धारा में हिन्दु अस्मिता के ध्रुवीकरण और यूपीए दो में हुए भ्रष्टाचार के विरूद्ध जीत अधिक थी।

वर्तमान केन्द्र सरकार ने सत्ता में आने के उपरांत अपनी पूर्ववर्ती सरकार की आर्थिक नीतियों को ही आगे बढ़ाया है। नए आर्थिक सुधारों के नाम पर वैश्वीकरण की प्रक्रिया को और गति दी गई है। खुदरा क्षेत्र में 100 प्रतिशत एफडीआई कर दी गई है। स्वदेशी अर्थशास्त्र को वैश्वीकरण के साथ मिलाते हुए मोदी सरकार की रणनीति यह रही है कि रोजगार बढाने वाले हर क्षेत्र में विदेशी निवेश को आमंत्रित किया जाए। हाल ही में जनवरी 2018 में दावोस में प्रधानमंत्री मोदी ने बयान दिया कि, "वैश्वीकरण के स्थान पर संरक्षणवाद सिर उठा रहा है।"[3] उनका यह बयान नए आर्थिक सुधारों और उसकी पक्षधरता को व्यक्त करता है। नए आर्थिक सुधारों को लागू करने के उद्धेश्य से वर्तमान सरकार ने वस्तु सेवा कर (जी एस टी) लागू किया गया। कई राज्य इससे खुश नहीं है। उनका आक्षेप है कि जी एस टी राज्य की वित्तीय स्वायत्ता में हस्तक्षेप करता है। साथ ही इसमें वस्तुओं का श्रैणीकरण राज्यों के बीच असंतुलन पैदा करता है। हाल ही में दक्षिण के कई राज्य इस बात से नाराज हैं कि राजस्व में उनकी भागेदारी ज्यादा होने के उपरांत भी केन्द्र उन्हें कम पैसा दे रहा है। चन्द्रबाबू नायडू नाराज होकर केन्द्र सरकार का साथ छोड चुके हैं तो महाराष्ट्र में किसानों के मुद्धे पर शिवसेना भी केन्द्र और राज्य सरकार से नाराज है। कई सर्वे रिपोर्ट यह इंगित कर रही है कि वर्तमान सरकार की लोकप्रियता में कमी आई है। इसका कारण यह है कि अस्मिता की राजनीति के जरिए सत्ता हासिल तो की जा सकती है किन्तु आपको कुछ अलग करके दिखाना होता है। यह अलग आर्थिक स्तर पर नजर आता है। किन्तु वर्तमान सरकार ने अपनी पूर्ववर्ती सरकार की आर्थिक नीतियों को ही आगे बढाया है। नए आर्थिक सुधारों के नाम पर वैश्वीकरण की प्रक्रिया को और गति दी गई है। इससे रोजगार के संकट खड़े हो रहे हैं और युवा आंदोलनरत हैं।

इस प्रकार 1991 के उपरान्त से भारत में जो भी सरकारे रही हैं उनकी रणनीति लाइसेंस, परमिट राज से उदारीकरण, स्वदेशीकरण से भूमंडलीकरण, संरक्षण से प्रतियोगिता तथा सार्वजनिक क्षेत्र से निजीकरण की ओर मुड़ने की थी। 1993 में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के संरचनात्मक समायोजन (SAP) के लिए सहमति बनी। 1995 में भारत विश्व व्यापार संगठन (WTO) का सदस्य बना। आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992–.97) में स्पष्टतः सार्वजनिक निवेश के क्षेत्र में निजी निवेशकों को वरीयता दी गई। नवीं पंचवर्षीय योजना (1997–2002) में भौतिक एवं मानवीय आधारभूत संरचना के क्षेत्र में निजी निवेशकों को निवेश के लिए प्रोत्साहित किया गया। इन दोनों योजनाओं के अंतर्गत सार्वजनिक निवेश को निजी निवेश

से तथा आयात प्रतिस्थापन को नियात प्रतिस्थापन्न से प्रतिस्थापित करने का प्रयास किया गया। यद्यपि दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002–2007) में समावेशी संवृद्धि (Inclusive Growth) पर बल देते हुए NAREGA-2005 तथा अनुसूचित जनजाति एवं अन्य पारम्परिक वन्य निवासी अधिनियम (FRA-FOREST RIGHT ACT-2006) सूचना का अधिकार, प्राथमिक शिक्षा का अधिकार या हाल ही 2017–18 में उज्ज्वला योजना, आयुष्मान भारत जैसे महत्वपूर्ण कदम सरकार की ओर से उठाए गए किन्तु दूसरी ओर सामुदायिक संसाधनों के उदारीकरण, निजीकरण एवं अधिग्रहण की प्रक्रिया को भी बल दिया गया। 1991 की नवीन औद्योगिक नीति ने सार्वजनिक निवेश क्षेत्रों को निजी निवेश के लिए पूरी तरह खोल दिया। केवल प्रतिरक्षा व इससे संबंधित सामग्री बनाने वाले क्षेत्र और जीवन रक्षा से संबंधित औषधि बनाने वाले क्षेत्र ही इसका मुख्य अपवाद रहे। बीमार उद्योगों का विनिवेश किया जाने लगा। इसके लिए पृथक से विनिवेश मंत्रालय खोला गया। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को प्रोत्साहन दिया गया। भारतीय बाजार के विभिन्न क्षेत्रों को विदेशी कम्पनियों के लिए मुक्त कर दिया गया।

वस्तुतः वैश्वीकरण जनित अर्थव्यवस्था का बुनियादी संकट उसकी यह जरूरत है कि मुनाफा लगातार बढ़ता रहे और दूसरी बुनियादी जरूरत यह है कि जो मुनाफा कमाया जाए, उसका पुर्निवेश होता रहे ताकि उससे और मुनाफा कमाया जा सके। प्रथम जरूरत को पूरा करने के लिए आवश्यक है कि नवीन मांगे पैदा की जाए और बाजार का विस्तार किया जाए तथा दूसरी जरूरत को पूरा करने के प्रभावस्वरूप पूंजी का केन्द्रीकरण होता जाता है। इसलिए भारत जहां एक ओर उच्च संवृद्धि का कीर्तिमान स्थापित कर रहा है, वहीं दूसरी ओर भारत की 80 प्रतिशत जनता गरीबी, बेरोजगारी तथा भूखमरी का शिकार है। भारत सूचना प्रोद्योगिकी, स्पेस तकनीक, आनुवंशिक विज्ञान तकनीक, प्रबंध तकनीक, नाभिकीय ऊर्जा आदि के क्षेत्र में विश्व के सव विकसित 10 शीर्ष देशों से प्रतिस्पर्धा कर रहा है जबकि शिक्षा एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में आम लोग आधारभूत जरूरतों से भी वंचित है। एक आंकड़े के अनुसार भारत में 66 प्रतिशत गरीब बच्चों को चिकित्सा सुविधा उपलब्ध नहीं होती। भारतीय अर्थव्यवस्था विदेशी ऋणों के बोझ तले दबी हुई है, इसके विपरीत भारतीयों का खरबों रूपयों का कालाधन विदेशी बैंकों में पड़ा है। भारत एक नौलेज सुपर पावर के रूप में उभर रहा है, फिर भी पूरी दुनियां में सबसे ज्यादा निरक्षर लोग भारत में है। भारत में वयस्क श्रम शक्ति बेरोजगारी का शिकार है जबकि भारत में दुनियां के सर्वाधिक बाल श्रमिक है। एक ओर विकास के नाम पर ऊँची–ऊँची इमारतें, फ्लाई ओवर, शहरी चकाचौंध, स्पेशल इकॉनोमी जॉन्स, विशाल मॉल, बाजारों का निर्माण हो रहा है, दूसरी ओर आदिवासियों एवं किसानों को उनके हक से बेदखल किया जा रहा है। आज देश में विकास परियोजनाओं से सर्वाधिक विस्थापन आदिवासियों का हुआ है, जो कुल विस्थापन का लगभग 55 प्रतिशत है। सेज (SEZ) के नाम पर किसानों से उनकी भूमि सस्ते दामों पर खरीदकर पूंजीपतियों को औने–पौने दामों में बेची जा रही है। किसानों को इसका यथोचित मुआवजा नहीं मिल रहा है इसलिए उत्तर प्रदेश हो या आंध्रप्रदेश, हरियाणा हो या पंजाब, महाराष्ट्र हो या ओडिसा सर्वत्र किसान आन्दोलन कर रहे हैं।

बाजार–विस्तार एवं पूंजी–निवेश के नाम पर पूंजीपति को एक बड़ी रकम सब्सिडी के रूप में दी जा रही है। जबकि देश का गरीब किसान भूखमरी से आत्महत्या कर रहा है। यदि 2005–06 के बजट से 2011–12 तक के बजट का विश्लेषण किया जाए तो पिछले पांच वर्षों में 21,25,023 करोड़ रूपये का निगम आयकर आयात कर, उत्पादन शुल्क में निजी कम्पनियों को छूट दी गई है।[22] नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक फाइनेंस एण्ड पॉलिसी के आंकलन के अनुसार सकल घरेलु उत्पादक का 9 प्रतिशत भारत सरकार, नॉन मेरिट सब्सिडी देती है जो 2,70,000 करोड़ रू. वार्षिक होती है, जो सभी औद्योगिक घरानों को दी जा रही है। वस्तुतः वैश्वीकरण प्रभावित बाजारवाद अल्पकालीन लाभ पर आधारित है। वह यह विस्मृत कर देता है कि अल्पकाल में जो लाभदायक है, वह दीर्घकाल में हानिकारक भी हो सकता है।

'सामाजिक डार्विनवाद' से अभिप्रेरित नव उदार पूंजीवादी व्यवस्था मनुष्य के मात्र भौतिकवादी अस्तित्व को ही स्वीकार करती है, उसके नैतिक और सांस्कृतिक अस्तित्व को नहीं। इसलिए वैश्वीकरण के इस दौर में भारत में भ्रष्टाचार तीव्र पैमाने पर, फैला, जिसके उदाहरणस्वरुप हाल ही के वर्षों में हमें CWG स्पेक्ट्रम घोटाला, आर्दश सोसाइटी घोटाला, कर्नाटक में खानों से संबंधित घोटालों के रूप में देखने को मिले।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषण हमें इस निष्कर्ष तक पहुंचने में मदद करता है कि वैश्वीकरण के दौर में राज्य की कल्याणकारी भूमिका समाप्त हो गई है और वह कॉर्पोरेट पूंजी का विस्तारक एजेंट बन गया है। इससे आम नागरिक विकास की प्रक्रिया में भागीदार होने की बजाय हासिए पर चला गया है। भारत में भी राज्य इसी भूमिका का निर्वहन कर रहा है और वह 'कल्याणकारक' के स्थान पर फेसिलिटेटर या सुविधा उपलब्धकर्ता में तब्दील हो गया है, जिसका उद्देश्य पूंजीपतियों को अनुकुल सुविधाएं उपलब्ध करवाना रह गया है। राज्य द्वारा अपनी कल्याणकारी भूमिका को तिलांजलि देने से आम नागरिक की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति असंभव हो गई तथा 'ग्लोबल' पूंजी के जोश में 'लोकल' हितों एवं मांगो को नजर–अंदाज किया गया। वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने स्थानीय विकास को नजर अंदाज किया। इसका राजनीतिक परिणाम यह निकला कि राष्ट्रीय राजनीतिक दलों को अनेक प्रांतो की जनता ने अस्वीकार करना शुरू कर दिया। नतीजतन राष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का प्रभुत्व कायम हुआ और गठबंधन सरकारों का उदय हुआ, जो कमोपेश अस्थिर सरकारें रही है।

उपर्युक्त समस्त विश्लेषण के उपरांत इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि भारत में राज्य ने जब–जब अपनी समाजवादी और कल्याणकारी भूमिका को तिलांजलि दी है, तब–तब उसे संकटों का सामना करना

पड़ा है। तीव्र औद्योगिकीकरण के बावजूद कृषि आधारित ग्रामीण अर्थव्यवस्था को कहीं न कहीं विस्मृत किये जाने के कारण ही 1967 में पहली बार भारतीय अर्थव्यवस्था संकट में पड़ी और कांग्रेस का एक दलीय प्रभुत्व टूटा। 1971 में इंदिरा गांधी की समाजवादी, गरीबोन्मुख और कृषिगत विकास पर आधारित नीतियों ने पुनः कांग्रेस को खोया वर्चस्व प्रदान करवाया। किन्तु अस्सी और नब्बे के दशक में आर्थिक सुधारों की नवउदारवादी नीतियों ने क्षेत्रीय हितों को उभारने का अवसर दिया। यह देश के संघीय ढ़ांचे के लिए तो शुभ संकेत है, किंतु इससे संसदीय लोकतंत्र की व्यवस्था कमजोर हुई है। वैश्वीकरण की प्रकिया के अन्तर्गत असंतुलित विकास के कारण राजनैतिक अस्थिरता का जन्म हुआ। यही नहीं, क्षेत्रीय हितों के अतिरिक्त उभार ने राष्ट्रीय एकीकरण को चुनौती प्रस्तुत की है। सामाजिक, आर्थिक संघटन की नवीन वैश्वीकृत प्रणाली के दबावों से जहां एक ओर क्षेत्रीय अस्मिताओं को लेकर आन्दोलन हो रहे हैं, वहीं दूसरी ओर भाषा, जाति और सम्प्रदाय को लेकर तनाव मुखर हुए हैं। नव उदार अर्थव्यवस्था के दौर में पूरी समाज व्यवस्था एक बुनियादी परिवर्तन का सामना कर रही है, जिसमें व्यक्ति और समूह के स्थानिक हित महत्वपूर्ण हो गये हैं। सत्ता में हिस्सेदारी के लिए विभिन्न सामाजिक–सांस्कृतिक समूह के बीच खुली होड़ जारी है। यह देश की राजनीति के लिए गंभीर खतरे के संकेत हैं।

सुझाव

ऐसे में समाज में सफल राजनीतिक प्रबंधन के लिए स्थिर दलीय व्यवस्था अनिवार्य है, जो वैश्वीकरण के अंतर्गत संभव नहीं लगती। क्योंकि यह राज्य की भूमिका को सीमित कर व्यक्तियों व समूहों के हितों को बाजार के हवाले छोड़ देता है। अतः आज इस बात की आवश्यकता है कि राज्य अपनी कल्याणकारी भूमिका में पुनः लौटे और मिश्रित अर्थव्यवस्था के उस प्रतिमान की पुर्नस्थापना हो, जिसमें बाजार बेहतर ढंग से राज्य या समाज द्वारा नियंत्रित हो तथा निजी सम्पत्ति पर व्यापक सामाजिक नियंत्रण हो। एक ऐसा कल्याणकारी राज्य आज समय की जरूरत है, जो भौतिक पूंजी के साथ–साथ सामाजिक पूंजी का भी संवर्द्धन करे तथा उच्च समृद्धि दर को समावेशी विकास में परिणत कर सके।

नोट्स

1. रजनी कोठारी ने 1964 में 'कांग्रेस सिस्टम' की अवधारणा का प्रतिपादन किया। उन्होंने ऐसा इसलिए माना क्योंकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सहमति की पार्टी और अन्य पार्टियां 1947–64 तक दबाव की पार्टियों के रूप में उभरी।
2. मोरिस जोन्स ने 1964 की भारतीय दलीय व्यवस्था को एकदलीय प्राधान्य व्यवस्था के रूप में चित्रित किया।
3. https://www.indianeconomy.net/main/davos-modi-joins-debate-globalisation/

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. *देसाई, ए.आर. (1989) भारत का विकास मार्गः मार्क्सवादी दृष्टि, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,, पृ. 23*
2. *साईनाथ,पी. (1 मार्च, 2011) कार्पोरेट सोशलिजम टू जी ओरगे, द हिन्दु*
3. *घोष, जयन्ति एवं चन्द्रशेखर सी.पी. (2011) दि मार्केट देट फेल्डः निओलिबरल इकॉनोमिक रिफॉर्मस इन इंडिया, लेफ्ट वर्ड बुक्स, नई दिल्ली,*
4. *कोहली, अतुल (2009) डेमोक्रेसी एंड डवलपमेंट इन इंडिया : फ्रॉम सोशिलिज्म टू प्रो बिजनिस, ऑक्सफोर्ड यूनिवरसिटी प्रेस, पेपरबेक नई दिल्ली*
5. *तेंदुलकर, सुरेश तथा भवानी, टी. ए. (2007) अंडरस्टेंडिंग रिफॉर्मसः पॉस्ट 1991 इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवरसिटी प्रेस, नई दिल्ली*
6. *छब्बर, विवेक (2004) लॉक्ड इन प्लेस : स्टेट बिल्डिंग एंड लेट इंडस्ट्रीलाइजेशन इन इंडिया, प्रिंसटन यूनिवरसिटी प्रेस, प्रिंसटन*
7. *ड्रेज, जीन और अर्मत्य सेन (2002) इंडियाः डवलपमेंट एंड पार्टिसिपेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवरसिटी प्रेस, नई दिल्ली*
8. *मार्क्स, कार्ल, केपीटल, खंड 1, मशीन और आधुनिक उद्योग, उद्‌दृत द्वारा कृष्ण कुमार खन्ना, मार्क्स, एंगेल्स की रचनाओं में इकोलॉजी विषयक प्रसंग, शोधार्थी, अप्रेल–जून 2005*
9. *सिन्हा, सच्चिदानंद (2003) भूमंडलीकरण की चुनौतियां, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, भूमिका*
10. *बर्धन, प्रणब, चेलेन्जेज फॉर ए मिनिमम सोशल डेमोक्रेसी इन इंडिया, इ.पी. डबलू. मार्च, 2011*
11. *आलम, जावी (2007) लोकतंत्र के तलबगार, अनु, अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,, पृ. 73–74*
12. *समीर अमीन और जॉन बेलेमी फॉस्टर (2014) केपीटलिज्म इन दी एज ऑफ ग्लोबलाइजेषन : दी मेनेजमेन्ट आफ कन्टेमप्रेरी सोसाइटी, जेड बुक्स*
13. *प्रकाशित एंथेनी पी. डीकॉस्टा और अचिन चकबर्ती (2017) दी लैंड क्यूशचन इन इंडिया : स्टेट, डीपजेशन एंड केपीटीलिस्ट ट्रांजिशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवरसिटी प्रेस, नई दिल्ली*